


आलोचना का परिप्रेक्ष्य

सम्पादक
रोहिताश्व

 विद्या प्रकाशन
'सी' 449 गुजैनी, कानपुर-22

'आलोचना का परिप्रेक्ष्य' नामक प्रस्तुत पुस्तक यू०जी०सी०
एकेडेमिक स्टाफ कालेज, गोवा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आर्थिक
सहयोग से हिन्दी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम - 2005 हेतु प्रकाशित

ISBN : 81-88554-10-3

मूल्य : तीन सौ पचास रुपये मात्र

● पुस्तक	:	आलोचना का परिप्रेक्ष्य
● संपादक	:	रोहिताश्व
● प्रकाशक	:	विद्या प्रकाशन सी-449, गुजैनी, कानपुर - 22 ☎ : (0512) - 2285003 Mo. : 9415133173
● संस्करण	:	प्रथम, 2005 ई०
● मूल्य	:	Rs. 350.00
● शब्द-सज्जा	:	च्वाइस कम्प्यूटर ग्राफिक्स बर्गा, कानपुर
● मुद्रक	:	अजित आफसेट रामबाग, कानपुर

ALOCHANA KA PARIPREKSHYA

Edited By : Rohitashwa

पश्चिमी आलोचना के नये आयाम

↳ डॉ० किरण बुडकले

विगत पच्चीस वर्षों में साहित्यिक एवं सामाजिक चिंतन में एक सकारात्मक तथा गतिशील बदलाव आया हुआ है। आलोचना का नजरिया अब आधुनिकतावाद के केंद्र-स्थित नजरिये से हटकर हाशिये पर स्थित अन्यान्य मुद्दों की ओर मुड़ रहा है। सुविधा के लिए यद्यपि हम इसे उत्तर-आधुनिकता का नाम दें, फिर भी यह नया वैचारिक परिवर्तन इतना भी सरल, एकल तथा मुस्पष्ट नहीं है कि ऐसी सर्वसमावेशी शब्दावली से हम काम चला सकें। कार्य-कारण भाव के आधार पर हम इस आलोचनात्मक बदलाव को वैश्वीकरण से प्राप्त वैचारिक खुलेपन एवं बहुलता के स्वीकार का प्रभाव मान सकते हैं। लेकिन यह तो, हमारे युग की इस असाधारण उपलब्धि को विल्कुल ही ऊपरी सतह से देखने वाला कार्य होगा।

मानवीय चिंतन का इतिहास गवाह है कि ऐसी दूरगामी वैचारिक क्रान्तियों की नींव जीवन या अस्तित्व को समझने या समझाने के विविध तरीकों से, अलग-अलग विचारधाराओं से रखी जाती है तथा, विचारधाराओं के स्वीकृत दृष्टिकोण के व्यक्तिनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ पक्षों से विचार-विमर्श में परिवर्तन आता है। उदाहरण के लिए, अगर विगत पाँच-छह शताब्दियों का सिंहावलोकन करें तो पता चलेगा कि अगर किसी युग में व्यक्ति-केन्द्रित या स्व-केन्द्रित विचार प्रधान रहा है, तो किसी युग में परिवेश-केन्द्रित ब्रिंचार ने प्राथमिकता हासिल की है। वर्तमान दौर में आलोचना ने फिर एक बार परिवेश को व्यक्ति से ऊपर वरीयता प्रदान की है।

आज की तारीख में आलोचना के जो निरंतर बढ़ते हुए परिवेश केन्द्रित आयाम हैं, उनमें स्पैस क्रिटिसिज्म (दिक्-विमर्श) और इको क्रिटिसिज्म (पर्य-विमर्श) प्रमुख हैं। इनके अलावा, पर्यावरण तथा नारी केंद्री विचारधाराओं के संयोग से इको-फेमिनिस्टीक डिस्कोर्स (पर्य-नारी विमर्श) न केवल उभरा है बल्कि बड़ी सतर्कता से पारंपारिक साहित्यिक-सामाजिक सिद्धांतों की समीक्षा में जुटा हुआ है। परिणामस्वरूप, परंपरा से धुत्कारी गई कई कृतियों की नये सिरे से आलोचना हो रही है। साथ ही, नई परिप्रेक्ष्यों के चलते इतिहास के कालसापेक्ष बोझ तले दबे हुए कई तथ्य उभरकर सामने आ रहे हैं। पश्चिमी आलोचना में उत्तरोत्तर प्रभावी बनने वाली इन नई विचाराधाराओं के कुछ एक आयामों की नवीनता तथा उपयुक्तता ध्यान में रखकर प्रस्तुत चर्चा में उन पर प्रकाश डालना उचित समझा है। आशा है, इस से भारतीय साहित्य की आलोचना के लिये न केवल नए साधन मिलेंगे, बल्कि भारतीय

तथ्यों के संदर्भ में इनके उपयोजन की सयुक्तता पर चर्चा करने के लिये भी पर्याप्त प्रेरणा मिलेगी ।

इको क्रिटिसिज्म (पर्य-विमर्श)

इको क्रिटिसिज्म (पर्य-विमर्श) का संबन्ध उस तथ्य से है जिसे लाकान ने 'रीयल' (यथार्थ) कहकर नामांकित किया है । यथार्थ अपने 'प्रतीकाल्मक प्रतिनिधित्व' (सिम्बोलिक रिप्रेसेन्टेशन) से पूर्व अस्तित्व में आता है तथा उस प्रतिनिधित्व को चुनौती भी देता है और उस में बाधा भी डालता है । अजीब बात यह है कि मानवीय मन-मस्तिष्क पर हर दम हावी होने वाला, हमारे अस्तित्व को वस्तुतः बदलनेवाला यह 'यथार्थ' चिंतन या विचार की पकड़ में पूरी तरह नहीं आता । इसलिए, मानव के अथक प्रयत्नों के बावजूद 'यथार्थ' पर्याप्त मात्रा में हमारे साहित्य या चिंतन में प्रतिविम्बित नहीं हो पाता ।

पश्चिम में शीतयुद्ध के अंत से जुड़कर उभरे वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के तहत समकालीन विश्व को कई नयी विचारधाराएँ प्राप्त हुईं । इसे केवल संयोग मानकर चलना, वास्तव में हकीकत के खिलाफ होगा । हाँ नए विचारों को, सीधे-सीधे शीतयुद्ध के अंत का परिणाम समझना भी सरलीकरण का नजरिया होगा । कारण, इन नए विमर्श - प्रणालियों की वैचारिक पूर्व-पीठिका तो दशकों पूर्व बन रही थी । जो भूतपूर्व और कालसापेक्ष अवधारणाएँ थीं उनको सही या गलत प्रमाणित करने की दिशा में विभिन्न ज्ञानानुशासनों में अध्ययन तथा अनुसंधान जारी था । मगर इस सारे कार्य का एकत्रित परिणाम 20वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में सुस्पष्ट होने लगा । कार्ल क्रोबर के मतानुसार सातवें एवं आठवें दशक के दरम्यान, तत्कालीन अधिकांश आलोचनात्मक अवधारणाएँ और उनके परस्पर विरोध शीतयुद्ध के संदर्भ में ही उभरकर सामने आए । यह बोध हमें वर्तमान दौर में महसूस होता है । क्रोबर कहते हैं कि मानवीय सृजनशीलता, मानवीय सक्रियता तथा मानवीय सामाजिक संबन्धों की शीतयुद्ध कालीन आलोचना के तहत मानवीय-अमानवीय, संस्कृति-प्रकृति का ध्रुवीकरण नजर आता है । पाश्चात्य आलोचना जगत में इसका एक दीर्घ इतिहास उपलब्ध है ।

सातवें दशक के आरम्भ में ही, प्राकृतिक संसार तथा संस्कृति एवं समाज के संबंधों का उद्घाटन इतिहास, तत्वज्ञान, थिऑलॉजी, राजनीति-विज्ञान आदि अनेक संलग्न ज्ञानानुशासनों में होने लगा था । लेकिन साहित्य एवं संस्कृति के आलोचकों ने इस परिवर्तन के प्रति तुरंत कोई बड़ी दिलचस्पी दिखायी हो, ऐसा नहीं लगता । सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में सक्रिय शिक्षा-संस्थानों ने भी इस दिशा में सैद्धांतिक विवेचन करने में कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी । परिणामस्वरूप, साहित्य से संलग्न आलोचना में समकालीन जगत की इको-क्रिटिकल (पर्य-विमर्शिक) पहल लंबे अर्से तक उपेक्षित या असफल ही रही । इस वारे में, शेरील ग्लोटफेल्डी का पर्यवेक्षण महत्वपूर्ण है । वे कहती हैं, 'कि [आप] अगर संपूर्ण विश्व के वारे में जो भी भांप सकते हैं वह

केवल साहित्य से मिलने वाली जानकारी तक सीमित होता तो उस से भले ही आप तुरंत समझ पाते कि 20वीं शताब्दी के प्रमुख विषय वंश, वर्ग और लिंग थे । लेकिन, आप यह नहीं जान पाते कि पृथ्वी की जो आधारभूत व्यवस्था है वह तनावपूर्ण है । मुमकिन है कि आप (कभी) यह बात भी जान नहीं पाएंगे कि एक पृथ्वी भी थी ।’ (1996, 16)

इस आलोचनात्मक उपेक्षा का कारण शायद यह भी था कि तत्कालीन आलोचना आधुनिकतावाद तथा मानवतावाद के प्रभाव में थी और इन दोनों आलोचनात्मक प्रवाहों का ध्येय प्रकृति तथा समाज के संबंधों के अध्ययन के लिए पूरक नहीं था । इसीलिए, कैट रिग्बी का कथन है कि, ‘प्रकृति और संस्कृति, फिझिस और टेक्ने (भौतिकता और तंत्रवैज्ञानिकी), पृथ्वी और मानवीय शिल्प (कारीगरी) - उपभोग और विध्वंस - इनके बीच जो अटूट संबंध है उसके प्रति संवेदनशील होने के लिए आधुनिकतावाद के आडंबर तथा मानववाद के अहंकार से हमें ऊपर उठना होगा’ (2000, 151)

विचारणीय बात यह है कि लोग अपने पर्यावरण के बारे में क्या करते हैं यह इस बात पर निर्भर होता है कि वे अपने परिवेश के बारे में क्या सोचते हैं । इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण मत लिन द्वायट का है । इको क्रिटिसिज्म (पर्य-विमर्श) के संबंध में कहते हैं कि ‘मनुष्य का इको क्रिटिसिज्म (पर्यवाद) प्रकृति तथा भाग्य (याने की धर्म-पंथ या रिलीजन) संबंधी उसके विश्वासों पर आधारित होता है ।’ (1996, 6) फिर भी, कार्य-कारण भाव का प्रश्न उठता ही है । ऐसे विश्वासों के लिए कौन-सी बातें पूरक होती हैं ? विमर्श की कौन सी प्रणालियाँ उन्हें प्रभावित करती हैं ? कौन-सी सांस्कृतिक परंपराएं उन्हें प्रेरित करती हैं ? यहां, केवल सांस्कृतिक घटकों का प्रभाव मान लेना आदर्शवाद की गलत अवधारणा स्वीकार कर लेने के समान होगा और केवल भौतिक तथ्य एवं उत्पादन व्यवस्था के संबंध को स्वीकार करें तो आर्थिक निर्धारण को ही प्रभावी घटक मानने की गलत अवधारणा स्वीकारना होगा । दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी हैं और इसलिए योग्य नहीं हैं । अगर प्रभाव रहा है तो वह इन दोनों घटकों का सम्मिलित प्रभाव रहा होगा ।

केरोलीन मर्चेंट इस बात की कारण - मीमांसा करते हुए 17वीं शताब्दी के विचारधाराओं के मिश्रित परिणाम की ओर संकेत करती हैं । यांत्रिकतावादी (मेकेनिस्टिक) तथा अणुवादी दृष्टि से सृष्टि को व्याख्यायित करने का तत्कालीन प्रयास तथा फ्रांसिस बैकन द्वारा प्रसारित विधातावाद का पुनर्निरूपण इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधारों का संमिश्रित असर उस समय के यूरोपीय जगत में उदित होनेवाले बाजारू पूंजीवाद (मार्केट केपिटलिज्म) को बहुत ही लाभदायक साबित हुआ । इन मिलीजुली परिकल्पनाओं से प्रभावित सामाजिक-आर्थिक उलथपुलथ से यथार्थ में प्रकृति विषयक एक ऐसी अवधारणा को गति मिली होगी जिसके अनुसार मानव समाज के द्वारा प्रकृति को पूरी तरह समझ पाना, प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप करना, तथा प्रकृति पर विजय

प्राप्त करके रूपांतरित करना आदि बातों को न केवल पूर्व-निर्धारित कार्य माना गया होगा, बल्कि प्रकृति इसके लिए बाध्य रही है तथा मनुष्य का भी वही धर्म है, ऐसी मान्यता उस दौर में शायद प्रचलित हुई होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल में ऐसी अवधारणाओं को मिली स्वीकृति का मूल संभवतः ऐसी ही परिकल्पनाओं में छुपा हुआ है।

वर्तमान दौर में इको क्रिटिसिज्म (पर्य-विमर्श) की मान्यता यह है कि प्राकृतिक संसार केवल मानवीय हस्तक्षेप या अंतःक्रमण (इंग्रेशन) का निष्क्रिय स्वीकारकर्ता नहीं है। ऐसी कितनी ही ऐतिहासिक घटनाएं हैं जिनको अब तक सिर्फ मानवीय कार्य से सिद्ध माना जाता था, लेकिन वास्तव में उन घटना-कार्यों के पीछे भूमि और मनुष्य के जैविक आदान-प्रदान मुख्य रहे हैं। उनका परिणाम जितनी मात्रा में संस्कृति तथा मानव समाज ने निर्धारित किया है, उतना ही भूमि की प्रकृति ने भी किया है। अगर आलोचना इस नजरिये से साहित्य-संहिताओं (लिटररी टेक्स्ट्स) का पुनर्पाठ करे, तो प्रचलित प्रथाओं की तुलना में उनकी व्याख्या तथा संदर्भीकरण में आमूलचूल परिवर्तन आएगा। कारण, जहाँ पारंपारिक आलोचना साहित्य की समीक्षा के लिए इतिहास, चिंतन, समाजविज्ञान आदि पर निर्भर हुआ करती थी, वहीं अब उसे भूगोल, पर्यावरण तथा प्राकृतिक विज्ञान पर निर्भर रहना पड़ रहा है। इसमें भौगोलिक औष्णिक आलोचना समाविष्ट है जिसके तहत पृथ्वी को परिवर्तन क्षमतायुक्त और मनुष्य को असुरक्षित या भेद्य 'व्हल्लरेबल' माना गया है।

अंत में इको-क्रिटिसिज्म (पर्य-विमर्श) के संदर्भ में कुछ उपयोगी तत्वों की ओर नजर डालनी चाहिए जो साहित्य की आलोचना करने में सहायक हो सकें। लॉरेन्स बुएल्स के विचारानुसार कोई भी कृति इकोसेंट्रीक (पर्यकेंद्रीय) तब मानी जानी चाहिए जब कि उस में चार पर्यावरण-उन्मुख उद्देश्यों का दर्शन हो। वे चार उद्देश्य इस प्रकार हैं -

(1) वह कृति मानवेतर परिवेश को मात्र एक चौखट भर न समझे, बल्कि प्राकृतिक इतिहास में ही मानवी इतिहास समाया है यह दर्शानेवाला एक अस्तित्व समझे।

(2) ऐसी साहित्य कृति के द्वारा ऐसी मान्यता न मिले कि मात्र मानवीय हित और स्वार्थ ही जायज हैं।

(3) प्राकृतिक परिवेश के प्रति मानव की प्रतिबद्धता उस संहिता के नैतिक अधिष्ठान का एक अभिन्न अंग हो।

(4) पर्यावरण या प्राकृतिक परिवेश केवल स्थिर या निर्धारित तथ्य न होकर एक प्रक्रिया है यह आंतरिक समझ संहिता में समाविष्ट हो।

उपर्युक्त वस्तुपरक उद्देश्यों के उद्घाटन के उपलक्ष्य में अर्नेट कॉलॉडनी की लिखी 'लै ऑफ द लैण्ड' नामक पुस्तक महत्वपूर्ण है। उसमें उन्होंने उत्तर अमरीकी साहित्य

में नजर आने वाले भूमि के 'स्त्रीत्वयुक्त प्रतिनिधित्व' (फेमिनायान रिप्रजेन्टेशन) का या रूपकीकरण (मेटाफोरायझेशन) का संदर्भों सहित विश्लेषण किया है। खासकर वे स्त्रीत्वयुक्त भूमि की संकल्पना के प्रति पुल्लिंगी-प्रवृत्तियों का संघर्ष दोहरे प्रतिमानों (आक्रमणकारी पुरुष एवं गर्भस्थ शिशु) द्वारा अभिव्यक्त करती हैं। इन प्रवृत्तियों की वास्तविक अभिव्यक्ति में किसी प्रदेश पर अतःक्रमण (इंग्रेशन) करके उस पर बलात कब्जा जमाना तथा विशिष्ट भूमिखंड को 'कुमारी' या 'मातृरूपी' स्थिति में (जैसे कि 'देवराई' बना के) अबाधित एवं पूजनीय रखना ये दोनों अनिश्चित 'दुलायमान' अवस्थाएं शामिल हैं।

स्पेस क्रिटिसिज्म (दिक विमर्श) :

टाइम (काल) एवं स्पेस (दिक) मानवी जीवन के दो अभिभूत अंग हैं जिनके द्वारा ही मानवीय अनुभूति को स्थायी अर्थ में समझा जा सकता है। और तो और, इन दो आयामों के चलते ही वर्तमान अनुभव को अतीत के संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है और वर्तमान तथ्यों के आधार पर भविष्य के बारे में कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है। जाहिर है कि काल एवं दिक का मानवीय परंपरा एवं काव्यशास्त्र में अनन्य महत्व है।

लेकिन गौर से देखा जाए तो इन दोनों तत्वों का महत्व सदैव एक सा नहीं रहता। युगानुरूप इनमें से एक तथ्य का पलड़ा दूसरे से कभी-कभी भारी हो जाता है। विगत कुछ शताब्दियों के इतिहास को देखें तो मालूम होता है कि युगानुरूप काल-तत्व का महत्व दिक की तुलना में असाधारण मात्रा में ज्यादा आंका गया है। इसका कारण शायद 'काल' (टाइम) के साथ जुड़ी यह सामान्य अवधारणा रही होगी कि 'काल' गतिमान, शक्तिशाली तथा अस्थायी है। इसीलिए उसे सर्वसाक्षी, चैतन्ययुक्त तथा सक्रिय माना गया है। इसके विपरीत, 'स्पेस' (दिक) को स्थायी, जड़, गतिशून्य मानकर अक्सर उसे खाली पात्र की तरह निष्क्रिय अभिज्ञापित किया गया है।

परिणामस्वरूप दुनिया भर में काल को मानवीय मन से, चेतना से, यहाँ तक की विधाता से भी संलग्न समझने की परंपरा कायम है। गहराई से देखा जाए तो, पश्चिम में 'व्हील ऑफ टायम' या भारत में 'कालचक्र' या 'काल का महिमा' आदि मुहावरे केवल भाषालंकार बनकर ही प्रचलित नहीं हुए हैं, बल्कि लोकमानस में 'काल' संबंधी संकल्पना के प्रति बनी आदरयुक्त तथा शक्तिसंगत अवधारणाओं के वे 'उद्घाटित' प्रतीक हैं। इस पृष्ठभूमि में 'स्पेस' (दिक) के लिए मात्र एक खाली रंगमंच या रिक्त पात्र (जो या तो मानवी क्रियाकलापों का खेल धारण करने के लिए या फिर भौतिक वास्तव को समेटने के लिए प्रस्तुत है) की ही प्रतिमा है।

फिलीप वैगनर के अनुसार विल्यम शैक्सपियर ने 'ऑल दि वर्ल्ड्स अ स्टैज, / ऐण्ड ऑल दि मैन ऐण्ड विमेन मियरली प्लेयर्स, / दै हॅव दैर अन्ट्रन्सिस ऐण्ड वन मैन

इन हिज टाइम प्लैज मैनी पार्ट्स, / हिज अक्टस विइंग सेव्हन ऐजिस', (एज यू लायक इट, 2, 7, 139-43) कहकर आगामी पीढ़ियों के लिए जैसे काल की दिक के ऊपर प्राथमिकता की अवधारणा को और भी सुदृढ़ कर दिया है। लेकिन, अगर हमें भारत में दिक की तुलना में काल की प्राथमिकता एवं दिक की सार्वत्रिकता को भाँपना है तो शैक्सपियर तक आने की जरूरत नहीं है। श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान कृष्ण स्वयं कहते हैं 'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदत्मानं सृजाम्यहम् ।। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतांम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।' अतः श्रीकृष्ण के इस कथ्य में भी 'दिक' या 'लोक' के सर्वोपरि काल का ही महत्व रेखांकित होता है। 'दिक' या 'स्पेस' तो दृढ़, अचर या निर्जीव ही माना गया है जिसका दर्जा बौद्धिक, आध्यात्मिक, यहाँ तक कि साहित्यिक चर्चा या आलोचना में भी दूसरे स्थान पर ही आंका गया है।

यह बात सत्य है कि हमारे महाकाव्यों में कुछ स्थानों पर 'दिक' या 'लोक' का प्रतीकात्मक महत्व रेखांकित किया गया है। उदाहरणतः रामकथा में सीता का धरती में समाविष्ट होना भले ही उसके तथाकथित सतीत्व का प्रमाण माना गया हो जैसे कि धरती उसके आवाहन पर अपने आप फटती है। लेकिन, इस प्रसंग द्वारा सृष्टि की एक असाधारण प्राकृतिक घटना (भूमि में दरार पड़ना) भी आलोकित होती है जिस का संयोगवश भारतीय इतिहास के प्रति अनन्य योगदान रहा है। इसी तरह, महाभारत में कई स्थानों पर, 'दिक' का व्यक्ति या घटना के महत्व से अटूट संबंध दर्शाया गया है। जैसे भीम का जहरीली खीर खाकर नागलोक में पहुँच जाना प्रकारान्तर से उसके जीवित लौट आने का कारण बन जाता है। यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ में नागलोक को 'सर्प-वंश की भूमि माना है। संभवतः वहाँ के लोग जहर उतारना जानते रहे होंगे। शायद और किसी 'लोक' में जहर का तोड़ मिल पाना सहज न हुआ होगा। इसी तरह, संशप्त अर्जुन का विविध 'लोकों' में भ्रमण अथवा अश्वमेघ यज्ञ के अश्व के साथ विदेश में भ्रमण करना प्रकारान्तर से उसके युद्धकला में निपुण होने का प्रमाण तो है। लेकिन, यह इस बात का प्रमाण भी है कि यह परिभ्रमण उनके तथा उनके संपर्क में आने वालों के जीवन पर कितना गहरा प्रभाव डालता है। इस में प्रमुख घटक है वहाँ की 'दिकीय' (स्पेसियल) विशिष्टता तथा सांस्कृतिय विषमता संबंधी चित्रण।

लेकिन, इन उल्लेखों में कहीं भी स्पष्टता से 'दिक' का महत्व सामने नहीं आ सका है। महज पात्रों की महानता या उनका महामानवीय रूप बनाए रखने के लिए 'दिक' के महत्व को प्रतीक के कवच में छुपाकर केवल सूचनारूप में प्रक्षेपित किया गया है। यहाँ हमें स्पष्ट करना होगा कि पात्र मूलतः 'कालसंगत गठन' (कनस्ट्रक्टस कन्सिस्टेंट विथ टायम) होते हैं जो स्पेस (दिक) या सज्जा (सॅटिंग) के संदर्भ में आलोकित होते हैं मगर एक बार स्थापित होने के बाद वह (स्पेस या सॅटिंग का) संदर्भ स्थायी रहता है।

याने कि 'स्पेस' का इस्तेमाल रंगमंच की तरह ही होता है । जिस पर पात्र के उत्कर्ष का नाट्यभाव निखरता है मगर खुद स्पेस का महत्व संदर्भ मात्र का रह जाता है । एक बार सिद्ध हो जाने के पश्चात वह स्थिर रह जाता है । फूको ने इसे 'स्पेस (दिक) का अवमुल्यन' कहा है । इसी बात को लक्ष्य करके 1976 के एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा है कि, 'स्पेस (दिक) को निर्जीव, दृढ़, विमर्श-विहीन तथा अचल माना गया । इसके विपरीत, टायम (काल) संपन्न, सुफल, जीवंत, विमर्शिक (माना गया) था ।'

इसके अच्छे खासे उदाहरण हमें आधुनिकता की कथन-प्रणालियों में मिलते हैं क्योंकि आधुनिकता की दृष्टि हमेशा 'काल' तत्व पर आधारित रही है । इसीलिए शायद, 'इतिहास' को सालों से अटल तथ्य मानकर उसकी छाया में मानवीय जीवन की हर समस्या का हल खोजने का प्रयास किया गया । और तो और, कालबद्ध इतिहास को जीवन के श्रेष्ठ अंग के रूप में प्रकट करने की परंपरा भी पश्चिम में आधुनिकता के तहत उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हेनरी जैम्स के उपन्यासों में अंकुरित हुई है । भावी साहित्य पर दूरगामी प्रभाव डालने वाली इन कृतियों में प्रस्तुत पात्रों की गहनतम मानसिकता को, कथ्य की उच्चतम उपलब्धि के रूप में न केवल देखा गया है, बल्कि सराहा भी गया है । आधुनिकता की काल्पनिक कथन-परंपरा के विशिष्ट स्रोतों में 'स्पेस' का महत्व मनस की एकल चेतना के सम्मुख नहीं के बराबर है । इस प्रथा का स्पष्ट प्रभाव आधुनिक वाचक के 'पूर्व कालीन साहित्य' के पठन पर भी पड़ा हुआ है ।

एडवर्ड सोजा के अनुसार आधुनिकता के इस कालसोपान पर मानसिक आंतरिकरण की प्रक्रिया में चेतना के सम्मुख 'दिक' के लिए कोई भी दिलचस्पी न होना महज एक इत्तफाक नहीं है । बल्कि यह बात तत्कालीन सामाजिक सिद्धांतों में भी 'दिक' को मिल जाने वाले दूसरे स्थान का ही संकेत है । **पॉल कार्टर** के अनुसार आधुनिकता की प्रधान कथन-विधाएँ तो सीधी **शेक्सपियर** की उपरोक्त पंक्तियों की प्रतिध्वनि हैं । इनमें जो आधुनिकता के 'साम्राज्यवाद का इतिहास' वर्णित है उसमें 'स्पेस' को मात्र एक मंच तक सीमित रखकर घटनाओं को केवल काल के संदर्भ में घटता दिखाया गया है... इसके बजाए कि ऐतिहासिक व्यक्तियों के हेतुयुक्त जगत पर, कार्यप्रवण (दिकीय) चुनावों के विश्व पर ध्यान केंद्रित करें, ऐसे यथातथ्य इतिहास का लक्ष्य एक तरह से उस वास्तव पर होता है जो घटनाओं के 'पश्चात' आता है । (1987, 16)

इतिहास को ऐसे कालबद्ध दृष्टि से देखने वालों के बारे में फूको कहते हैं, 'वे सारे जिन-जिन के लिए, इतिहास उल्लांति की पुरानी परियोजना से, सलग जीवंतता से सेंद्रीय (ऑर्गेनिक) विकास से, चेतना के उत्कर्ष से या अस्तित्व की व्यवस्था से जुड़ा होता है, वे स्पेस (दिक) की शब्दावली को इतिहास के खिलाफ समझते हैं ।

कोई अगर स्पेस (दिक) के माध्यम से बात करे तो माने वह काल से शत्रुता करता हो ।' (1980, 70) सौभाग्यवश विगत वीस-पच्चीस सालों से इस दृष्टिकोण में बदलाव आया है तथा 'दिक' संबंधी विचारधारा को न केवल व्यापक स्वीकृति मिल रही है, बल्कि 'दिक', 'स्थान', 'सांस्कृतिक भूगोल' जैसी संकल्पनाओं को ज्ञानानुशासनों के विभिन्न अध्ययन-क्षेत्रों से सार्थक सैद्धांतिक समर्थन भी प्राप्त हो रहा है । इस विधान का अर्थ है कि अब कहीं जाके 'दिक' को अपने हिस्से का विमर्शिक महत्व मिल रहा है ।

साहित्यिक आलोचना में 'दिक' का प्रवेश विविध वैमर्शिक दिशाओं से हुआ -

(1) मार्क्सवाद तथा मार्क्सवादी आलोचना से - क्योंकि मार्क्स के नीजि लेखन में 'स्पेस' एक मध्यवर्ति विचार था;

(2) वासाहतिक एवं नव-वासाहतिक विचार से - क्योंकि वासहतिकरण के जरिए 'स्पेस' पर यूरोपीय अधिसत्ता का स्थलविस्तार तथा इस जरिए विविध संस्कृति स्रोतों में अंतर - क्रियाएं कायम हुई थी;

(3) नारीवाद एवं लिंगकेंद्री विमर्श से जिनके जरिए शारीरिक यथार्थ, लैंगिकता, दैहिकता बड़े असें से आलोचना के प्रमुख मुद्दे बने रहे हैं;

(4) लोकसंस्कृति एवं परिसर अध्ययन से - क्योंकि इसके जरिए 'अ-ग्रांथिक' साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विधाओं की विशिष्ट प्रथाओं को खास तौर से फोकस में लाया गया ।

स्पेस क्रिटिसिज्म (दिक-विमर्श) को मौलिक योगदान करने वालों में मिशेल फूको तथा हेनरी लॅफ़ेब्रह का नाम सर्वोपरि है । उसी तरह विविध ज्ञानानुशासनों में प्रचलित पुरानी गलत धारणाएँ ढाह कर नई अवधारणाएँ स्थापित करने में जो समकालीन सामाजिक चिंतक, इतिहासकार, आलोचक, भूगोलविद्, स्थापत्यविद्, समीक्षक सक्रिय रहे हैं उन में अर्जुन अप्पुदुराई एडवर्ड सईद, पॉल कार्टर, एडवर्ड एस० कॅसी, ज्याक देरीदा, फ्रेड्रिक जैमसन तथा रैमंड विल्यम्स का प्रमुखता से समावेश होता है । अतः इस दिशा में अपने-अपने समय में भी 'प्रथाबाह्य' चिंतन एवं लेखन करनेवालों में मार्टिन हैडेगर (बिईग एण्ड टायम), आन्तोनियो ग्राम्ची (प्रिजन नोटबूक्स), गॅस्तोन बॅकेलार्ड (द पोएटिक्स ऑफ स्पेस) और मिखाय्ल वाख्लिन (द डायलोजिक इमॅजिनेशन) का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है । कारण, इन्होंने अपने-अपने तरीके से दो पूर्व अवधारणाओं को मात दी । एक वह अवधारणा थी जो प्रबोधनकालीन परिकल्पनाओं तथा कार्टेसियन भूमिका पर आधारित थी जिसके तहत स्पेस को 'व्यक्ति से अलग, वस्तुनिष्ठ, समजातीय (होमोजिनस) विस्तार' माना गया; दूसरी अवधारणा कान्ट की संकल्पना पर आधारित थी जिसके तहत 'स्पेस को माना गया था एक रिक्त पात्र जिस में मानवी क्रियाकलाप घटते हैं ।'

इन विचारकों ने दिखाया कि 'स्पेस' एक ही साथ एक *निर्मिती* भी है (जो वैविध्ययुक्त सामाजिक प्रक्रियाओं से तथा मानवी हस्तक्षेप से साकार होती है) और एक *शक्ति* भी (जो अपनी ओर से मानवी क्रियाकलापों की संभावनाओं को एक ही साथ प्रभावित, निर्देशित एवं सीमित कहती हैं)। एडवर्ड सोजा के शब्दों में, पश्चिमी आधुनिकता को चाहिए कि स्पेस को 'एक ऐतिहासिक, भौगोलिक-दिकीय (स्पेसियल) व्यवस्थाओं तथा परिसरों (जिसमें हमारे देह और वह सबकुछ जिसमें हम वास करते हैं समाविष्ट है) का लगातार विलयन एवं पुनर्गठन' कहकर पुनः व्याख्यायित करे। (1989, 31-5)

यहाँ उदाहरण के तौर पर शिवप्रसाद सिंह के आधुनिक उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' की दिकीय (स्पेसियल) आलोचना करके भारतीय संदर्भ में उपरोक्त कथ्य की यथार्थता जाँची जा सकती है। इस कृति में परिचित काल-चौखट में 'व्यक्तिगत वैतरणी' के प्रतीक में 'दिक' का उद्घाटन किया है। वह कहाँ तक उपरोक्त 'निर्मिती' तथा 'शक्ति' के रूपों में प्रत्ययकारी है? अगर नहीं, तो इसके कारण क्या हो सकते हैं? अगर है, तो कैसे? इसका पाठ के आधार पर विश्लेषण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, इस उपन्यास का एक पात्र, जुम्नचाचा, जो नैतिक दृष्टि से आदर्श है वह गाँव छोड़कर जाते समय कहता है, 'मेहरबां हो के बुलालो मुझे, चाहो जिस वक्त। मैं गया वक्त नहीं हूँ कि फिर आ भी न सकूँ।' इस वक्तव्य का, उपन्यास के संदर्भ में, दिक-काल के सापेक्ष संबंध उजागर करने में क्या कोई योगदान हो सकता है?

हैनरी लॅफॅबद्ध ने स्पेस की 'एक पुरातन अस्तित्ववाली, रूपवादी लक्षणों से युक्त रिक्तता जो वस्तुओं से, शरीरों से या भौतिक सामान से भरने के लिए तत्पर पात्र' यह व्याख्या खारिज कर दी। उन्होंने विस्तार से यह दिखाया कि 'पूजीवादी आधुनिकता का उदय और विकास एक विशिष्ट (सामाजिक) दिक के (सामाजिक) निर्माण से होता है। याने कि 'दिक' जो मूलतः मानवी क्रियाओं द्वारा निर्मित है और जो 'न वस्तुओं के जमावडेसे न सेंद्रीय तथ्यों के एकत्रीकरण से गठित होती है और न ही सामान से टूँसे किसी खालीपन से और उसे तथ्यों पर, वस्तुओं पर भौतिक एकत्रीकरण से गठित होती है और न ही सामान से टूँसे किसी खालीपन से और उसे तथ्यों पर, वस्तुओं पर, भौतिकता पर लादे गए सिर्फ एक 'रूप' तक सीमित नहीं किया जा सकता।' अर्थात्, लॅफॅबद्ध के अनुसार '(सामाजिक) स्पेस केवल बाकी चीजों के दरम्यान एक चीज नहीं, न ही अन्य निर्मितीओं में एक निर्माण; वह निर्मित वस्तुओं को समेटकर उनके सहजीवन एवं समांतर अस्तित्व में स्थिति संबंधों को (उनकी सापेक्ष व्यवस्था तथा सापेक्ष अव्यवस्था) को समाविष्ट करती है।' (1991, 170), इस कथ्य से स्पष्ट होता है कि दिकीय विमर्श (स्पेसियल क्रिटिसिज्म) की सामाजिक-सांस्कृतिक नींव कितने ठोस आधार पर डाली गयी है।

मिशेल फूको अपनी महत्वपूर्ण कृति 'डिसिप्लीन एण्ड पनिसमेंट : द बर्थ ऑफ द प्रिजन' द्वारा तपशील से उस वांशिक इतिहास को प्रस्तुत करते हैं, जिसने आधुनिक जगत को उबारा है। लेकिन उनकी खास उपलब्धि यह है कि उन्होंने अपने कथ्य को एक वैशिष्टपूर्ण झुकाव दिया है। फूको अपने विचारों का उद्घाटन शरीर पर विशेष जोर देकर करते हैं; खासकर के उन तरीकों पर ध्यान आकर्षित करते हैं जिनके द्वारा 'शरीर में सत्ता संबंधों का विनिवेश होता है।' फूको के अनुसार 'हमारा समाज दृष्य का नहीं बल्कि दृष्टि (नजर) का है।' इस कथ्य के आधार के लिए वे प्रमाण के रूप में आधुनिक सत्ता स्थानों की वंश - गाथा पुनर्गठित करते हैं। उदाहरण के तौर पर, जेरेमी बॅन्थम की आदर्श कारागृह - पॅनोप्टिकॉन - के स्थापत्य का संदर्भ देते हैं। इस तरह की वास्तु में कैदी को निरंतर 'दृष्य' स्थिति में रखा जाता है। हमेशा अधिकृत नजर के अदृष्य पहरे में रहने से कैदियों को पता नहीं लग पाता कि कब उन पर नजर रखी जा रही है। परिणामवश वे अपने आप पर नजर रखना आत्मगत कर लेते हैं और खुद ही नजरबंद हो जाते हैं। इसीलिए शायद फूको कहते हैं कि 'कारागृह, फेक्टरियाँ, स्कूल, अस्पतालों जैसे लगते हैं और वे (सारे) कारागृहों जैसे'। (1977, 205)

फूको के विचारों का असर 'नव-इतिहासवाद' पर खासतौर से दिखाई देता है। स्टीफन ग्रीनब्लाट ने अपनी आलोचनात्मक कृति 'रेनेसांस सेल्फफैशनिंग फ्रॉम मूर टू शेक्सपियर' में इन्हीं विचारों का सूत्र लेकर कई 'प्रस्थापित ग्रंथों' का प्रभावी पुनर्पाठ प्रस्तुत किया है। इसी तरह, देड़ के निर्माण एवं व्यक्तित्व के जो प्रश्न फूको ने उठाये हैं उनका नारीवादी सिद्धांतों में लक्षणीय तरीके से उपयोजन किया गया है। एलिजाबैथ ग्रॉस्ज का कथन इस तरह के उपयोजन का प्रमाण देता है। वे कहती हैं 'व्यक्तित्व का मुद्दा शरीर के स्तर पर, न कि अशारीर चेतना के स्तर पर उठाना चाहिए ... इतना काफी नहीं कि हम शरीर को 'न-द्वयकारी' या 'न-सत्व' शब्दावलि से पुनर्भाषित करें। उसे विशिष्ट लैंगिक शब्दावलि में भी परिभाषित करना होगा। शरीर कभी भी केवल मानवी देह या सामाजिक शरीर नहीं होते।' (1995, 84), इस कथन से नारीकेंद्री विचारधारा में 'देह' का एक 'सत्ता-स्थान' के रूप में या सत्ता श्रेणी के अंतर्गत शरीर का 'स्पेसियल' (दिकीय) महत्व कितना है इसका अंदाजा लगाया जा सकता है।

एडवर्ड सर्ईद 'स्पेस' के आयाम को लक्ष्य बनाकर के 'कल्चर एण्ड इम्पीरियलिज्म' में यह चेतावनी देते हैं कि 'पश्चिमी कल्पित साहित्य, ऐतिहासिक लेखन और चिंतन-विमर्श में जो भौगोलिक टिप्पणियाँ हैं, जो सैद्धांतिक नक्षेवाजी है और जो क्षेत्र का आलेख है उस पर हमें खास ध्यान देना पड़ेगा।' (1993, 58), मार्क्सवादी साहित्य - संस्कृतिविद फ्रैड्रिक जैमसन 'द पुलीटिकल अनकॉन्शस' में पुराने गद्य रोमांसों में तथा आधुनिक उपन्यासों में प्रस्तुत 'प्रातिनिधिकता' का परस्परविरोधी स्वरूप विशद करते हैं। उनके मतानुसार, रोमांस का हेतु 'जगत का जगतपना आलोकित करके जग में

रहने का अर्थ रेखांकित करना था । इसलिए उसमें भूगोल तथा परिवेश का ऐसा गठन होता था कि जिसमें (मानो) वाचक वास करता हो ।.... अगर उपन्यास 'पात्र' को रेखांकित करके आधुनिक केंद्रीत व्यक्तित्व का उत्कर्ष जताता है तो रोमांस सज्जा का अनुभव, जग या स्पैस का प्रभावी उद्घाटन करता है ।' (1981, 112)

जैमसन हमें सचेत करते हैं कि आलोचना को मात्र वैश्विक निकषों का संघ त्याग कर विविध कृतियों, विविध विधाओं तथा स्वरूपों की ओर ज्यादा संवेदी होना होगा । तृतीय विश्व के साहित्य के बारे में उनका मानना है कि तथाकथित 'ग्रांथिक' साहित्य की पृष्ठभूमि पर 'अ-ग्रांथिक' कृतियों का मूल्यांकन करना गलत होगा । याने कि यूरोपीय यथार्थवाद एवं आधुनिकतावाद के सत्ता - क्षेत्र को बढ़ावा देने वाले आधारों पर उस साहित्य को पढ़ना गलत होगा क्योंकि उसमें मानो हम प्रतिस्पर्धी के ही शस्त्र उधार लेते हैं । यह तरीका 'घोर फर्क को भी चुपचाप अनदेखा कर देता है ।' जैमसन के उपरोक्त कथ्य के प्रकाश में हमें भारतीय साहित्य के संदर्भ में 'स्पेस' की परिभाषा समझकर, उस संकल्पना को सतर्कता से आलोचना के दौरान उपयोग में लाना होगा । कोई भी नई विचारप्रणाली केवल 'पश्चिमी' होने से जैसे अस्वीकृत नहीं की जानी चाहिए, उसी तरह मात्र, 'तथाकथित' प्रथम-विश्व की वैचारिक उपज होने से उसे आँख मीचकर सर्वार्थ से स्वीकार भी नहीं कर लेना चाहिए । किसी भी नयी विमर्शिक प्रथा पर चर्चा करना तर्कसंगत भी होगा और बुद्धि संगत भी ।

यह प्रपत्र भारतीय आलोचकों के लिए एक दिग्दर्शन है और चेतावनी भी कि अगर 'स्पेसियल' (दिकीय) तथा इको (पर्य) विमर्श की अवधारणाओं को भारतीय परिप्रेक्ष्य में ढलना हो तो किन वैचारिक मुद्दों पर गौर करना होगा तथा किन परस्पर विरोधों से बचना होगा ।

सन्दर्भ सूची

1. वाखिन, एम०एम० द डायलोजिक इमॅजिनेशन : फोर एसैज० (सं० व अनु०) कॅरिल इमर्सन व मायकेल होलोकीस्ट, ऑस्टिनः टेक्सास युनिव्हर्सिटी प्रेस, 1981
2. ग्राम्बी, आन्तोनियो, सिलेक्सस फ्रोम द प्रिन्टन नोट बुक्स . (सं० व अनु०) क्रिन्टिन होअर व जिओफ्री नॉवेल- स्मिथ न्यूयॉर्क : इंटरनेशनल पब्लिशर्स, 1971
3. जैमसन, फ्रेड्रीक द पुलीटिकल अनकांशस : नॉर्टीव्हा अज अ सोशल सिम्बोलिक अक्ट. इथाका, न्यूयार्क : कॉर्नेल युनिव्हर्सिटी प्रेस, 1981
4. लॅफ़बव्हा, हेनरी. द प्रॉडक्शन ऑफ स्पेस. (अनु०) डोनाल्ड निकोल्सन - स्मिथ ऑक्सफर्ड : ब्लॉकवेल, 1991
5. सईद अडवर्ड, कल्चर एण्ड इम्पिरियलिज्म. न्यूयार्क : आल्फ्रेड के नॉपफ, 1993
6. सोजा, एडवर्ड, पोस्टमॉडर्न जियोग्राफीज : द रिअसर्शन ऑफ स्पेस इन क्रिटीकल सोशल थियरी. न्यूयॉर्क : व्हेसॉ, 1989
7. वैगनर, फिलीपड. इमॅजिनरी कम्प्युनिटीज : युटोपिया, द नेशन, एण्ड द स्पेसियल हिस्ट्रीज ऑफ मॉडर्निटी. बर्कले : युनिव्हर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, 2002

8. क्रोबर, कार्ल, इकोलॉजिकल लिटररी क्रिटिसिज्म : रोमॅन्टीक इमॅजिनिंग एण्ड द बायोलॉजी ऑफ द मायण्ड. न्यूयॉर्क : कोलंबिया युनिव्हर्सिटी प्रेस, 1994
9. ग्लॉटफॅल्टी, शेरिल और हॅरोल्ड फ्रॉम, (सं०), द एकोक्रिटिसिज्म रीडर : लैण्डमाक्स इन लिटररी इकोलॉजी. एथेन्स : युनिव्हर्सिटी ऑफ जॉर्जिया, 1996
10. जुलियन वोल्फ्रेयज, (सं), इन्ट्रोड्यूसिंग क्रिटिसिज्म एट द टैन्टीफर्स्ट सेंच्युरी. इडिंबरो : इडिंबरो युनिव्हर्सिटी प्रेस, 2000, खास निर्देश : 1, रिग्बी, कैट, 'इकोक्रिटिसिज्म' और लिन व्हायट 'द हिस्टॉरिकल रूट्स ऑफ अवर इकोलॉजिकल क्रायसिस'
11. मर्चण्ट, केरोलीन, इकोलॉजिकल रॅव्होल्युशन्स : नेच्यर, जेंडर एण्ड सायन्स इन न्यू इंग्लैण्ड, चॅपल हिल, नॉर्थ कॅरोलिना : युनिव्हर्सिटी ऑफ केरोलिना प्रेस, 1989
12. बुएल्स, लॉरेन्स, द एन्व्हायरनमैन्टल इमॅजिनेशन : थोरो, नेच्यर रायटिंग एण्ड द फोर्मेशन ऑफ अमेरिकन कल्चर, केम्ब्रिज : केम्ब्रिज युनिव्हर्सिटी प्रेस, 1995
13. कॉलॉडनी, एनॅट, द लै ऑफ द लैण्ड : चॅपल हिल : युनिव्हर्सिटी ऑफ कॅरोलिना प्रेस, 1975
14. फुको, मिशेल, 'केश्चन्स ऑन जिऑग्राफी' पावर / नॉलेड्ज्य : सिलेक्टेड रिव्यूज एण्ड अदर रायटिंग, न्यूयॉर्क : पॅन्थिऑन बूक्स, 1980

